**International Journal of Hindi Research**
**www.hindijournal.com**
**ISSN: 2455-2232**
**Received: 08-05-2021, Accepted: 23-05-2021, Published: 07-06-2021**
**Volume 7, Issue 3, 2021, Page No. 79-80**

# डॉ0 श्यामसुन्दर दुबे के नवगीतों में ग्राम्य–बोध

**डॉ0 अम्बिका प्रसाद**
सहायक प्रोफेसर, श्री अनन्तराम द्विवेदी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भीटा, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश, भारत

**सारांश**
डॉ0 श्यामसुंदर दुबे के नवगीत विचारों और भावों के सन्धि पत्र हैं। गीतकार अपने परिवेश और समय से जूझता है, उसकी तड़प और बेचौनी बेहद मुखर हो उठती है, लेकिन अपनी इस बेचौनी को वह बेहद शांत ढंग से लगभग निरूद्वेग होकर व्यक्त करता है। नवगीत में लोक जीवन को व्यक्त करना अपेक्षाकृत कठिन है। रचनाकार डॉ0 दुबे अपने पाठकों में एक टीस पैदा करता है यह टीस चीजों के छूटने का छूटते जाने के दर्द और संत्रास से भरी हैं।यह छूटती और टूटती चीजें जंगल, नदी, नाले, पहाड़, गांव और संयुक्त परिवार हैं और मानव मूल्य भी। डॉ0 दुबे का कथ्य लोक जीवन के विद्रूप होते अंतर्वाह्य पर्यावरण के जीवंत साक्ष्य नहीं बल्कि भोगे हुए अहसास हैं, जो पाठकों को अपनी पीड़ा और उल्लास का भागीदार बना लेते हैं। गीतकार डॉ0 दुबे आधुनिकता के बीच अपनी खोती लय को पकड़ने का प्रयास करता है, जिसके बदल जाने या छूट जाने से गीतकार आहत हुआ है, जो उनके नवगीतों में स्पष्ट है। यह नवगीत अपनी कहन और बनक दोनों में नवगीत परम्परा की दिशा तय करते हैं।

**मूलशब्द:** नवगीत विचार, नवगीत परम्परा, कथ्य लोक जीवन के विद्रूप

## प्रस्तावना

नवगीतकार के रूप में डॉ0 श्यामसुंदर दुबे नवगीत के क्षेत्र में एक विशिष्ट हस्ताक्षर के रूप में विख्यात हैं। नवगीत को अपनी लेखनी से विकास की एक नई दिशा डॉ0 दुबे ने प्रदान की है। उन्होंने अपने गीतों में लोक प्रकृति, लोक स्वभाव, लोक और आधुनिकता का द्वन्द तो प्रकट किया ही है इसके साथ ही महानगरीय जीवन के समकालीन अनुभवों को भी उनके लोकगीतों में मुखरित किया गया है। उनके नवगीत भी भारतीय जीवन को प्रत्यक्ष करने वाले हैं। नवगीत के छन्द को उन्होंने युग जीवन की जय से उद्भूत किया है इसलिए शिल्प की दृष्टि से उनके नवगीतों में एक नयापन है। विशेष रूप से ग्राम्य–बोध की अनुगूंज उनके नवगीतों में क्रियाशील रहती है। छोटे मीटर में एक व्यापक परिदृष्य निर्मित करने की कला उनके पास है। देशज प्राकृतिक बिम्बों को उनके नवगीतों में अनुभव किया जा सकता है। बोली के शब्द उनके नवगीतों में एक आत्मीय संसार की निर्मिति करते हैं। डॉ0 दुबे नईम, गुलाब सिंह, अनूप अशेष आदि की परम्परा में आते हैं।

डॉ0 श्यामसुंदर दुबे के नवगीत एक अलग धरातल पर लोक से जुड़ते हैं। 'रीते खेत में बिजूका' नवगीत संकलन में "डॉ0 दुबे के नवगीत व्यक्ति के सामाजिक सरोकारों को नदी और जल के रिश्तों में अभिव्यक्ति देते हैं। ऋतुओं, प्रकृति और व्यक्ति के समवेत स्वरों में राग मालकौंस गाते हैं। धरती और आकाश के विराट संदर्भ, मानवीय परिप्रेक्ष्य में अपने निश्छल खुलेपन के साथ इन गीतों की लय में बंधते हैं, बहते हैं। आस्था की रेशमी डोर तुलसी के बिरवे से लेकर वट–वृक्ष की शिराओं तक अपने वर्तमान की उपादेयता की तार्किकता के साथ जुड़ी है। अमराइयों के गांवों से चलकर चाल–बाजियों के नगरों तक पहुँचता हुआ व्यक्ति बदहवासी के क्षणों में अचकचाकर खड़ा दिखाई देता है, लेकिन वह अपनी यात्रा में निरंतर है। इनका व्यक्ति अनटूटा है और अदम्य जिवीविषा में कुछ सार्थक, कुछ अनुकूल सर्जन का धुनी है। ये गीत लोक के तीज–त्योहारों, रीति–रिवाजों में असल की तलाश करते हुए युग–सत्य को हथेली पर रख देना चाहते हैं। इनमें मूल्यों को उगाने के लिए जमीन बदलने की नहीं, उसे उर्वरा बनाने की हुमस है। अपने समय के सम्पूर्ण को पत्तों पर हरियाली–सा उजागर करते हैं।

ये नवगीत अपनी कहन और बनक दोनों में नवगीत परम्परा की दिशा तय करते हैं। यांत्रिकता, औद्योगीकरण, भीड़ की रेलममेल, बनते शहर, ध्वस्त होते गाँवों के बीच ये जीवन की लय को पकड़ते हैं तथा उसे भड़भड़ाहट के साथ बिखरने नहीं देते।"[1] बहुत कुछ ग्राम्य जीवन में ऐसा था जिसके बदले जाने से, छूट जाने से, टूट जाने से गीतकार आहत हुआ है और उसका मोह भंग इन गीतों में दिखाई देता है।

"लादे कंधों पर जंगल को
और लपेटे हुए देह से
नागफनी का वंश,
हम यात्रा की गलत शक्ल में
रफ्तारों से भरी भीड़ का
चले झेलते दंश।
जब जुड़ते हैं हम अपनों से
चुभता रहता पसली भीतर
बीच ठहाकों के भी खतरनाक हथियार'।"[2]

गीतकार हमें सचेत करता है कि हमारी यात्रा गलत दिशा में जा रही है जिसका दंश हमें आगे झेलना पड़ेगा। "कविता विशेषकर गीत–कविता में लोकजीवन को व्यक्त करना अपेक्षाकृत कठिन हैं। डा0 दुबे का रचनाकार अपने पाठकों में एक टीस पैदा करता हैं। यह टीस चीजों के छूटने या छूटते जाने के दर्द और संत्रास से भरी है। यह छूटती और टूटती चीजें जंगल, नदी, नाले, पहाड़, गाँव और संयुक्त परिवार हैं, और मानव मूल्य भी। डॉ0 दुबे का कथ्य लोक जीवन के विद्रूप होते अन्तर्वाह्य पर्यावरण के जीवन्त साक्ष्त नहीं, भोंगें हुए अहसास हैं, जो पाठक को अपनी पीड़ा और उल्लास का भागीदार बना लेते हैं।"[3] रचनाकार ग्राम्य जीवन की सामूहिकता को, उसकी सामाजिक प्रथाओं को, उसके आर्थिक तंत्र को और उसके मूल्यों को टूटते हुए देख रहा है। अकेले होने के संत्रास को वह महसूस कर रहा है।

"इन दिनों कितने अकेले/ये बिजूके
ये दरारों फट गये–से खेत।
आंधियां चटका गयी हैं/
बाँह जब से हो गयी गुमसुम हमारे द्वार की जामुन,
कटे बाजू से पिता के/बँट गये आँगन
बहुत भारी है तभी से माँ का मन।"[4]

अनाज से भरपूर हरे–भरे खेतों को पशु–पक्षियों से बचाने के लिए डरावनी निर्जीव आकृति खेत में खड़ी की जाती है जिसे बिजूका कहते हैं, लेकिन खेतों का हरा–भरापन तो दूर सूखे खेतों में दरार फट गयी है। दरारों से फटे खेतों में बिजूके का दृश्य कितना कुरूप और मन को दहला देने वाला है। दरवाजे में लगी जामुन अंग–भंग हो गयी है। तब से वह गुमसुम है ठीक उसी तरह से जैसे घर का बँटवारा हो गया है और उस आंगन के बट जाने से उसके अलग हो जाने से माता–पिता के हृदय में बज्रपात सा हो गया है। वह बहुत दुःखी हैं। ये गीत अपनी कहन और बनक दोनों में नवगीत परम्परा की दिशा तय करते हैं। आधुनिकता और शहरीकरण के बीच ये जीवन की लय को पकड़ते हैं। उसे बिखरने नहीं देते। प्रतीक और विम्ब जमीन से उठायें हैं, भाषा की समृद्धता इन गीतों में बसी है।

'इतने करीब से देखो नवगीत संकलन में डॉ0 दुबे ने आत्म वक्तव्य के रूप में जो अपना मन्तव्य प्रकट किया है, वैसा ही एक साक्षात्कार के दौरान उन्होंनें स्पष्ट किया कि इधर आधुनिकता के विभिन्न दबावों के बीच जो वैचारिक उत्तेजना गीत की शक्ति बन सकती है, उस शक्ति को इस विधा के प्राण केन्द्र में प्रतिष्ठित करने की सतत् चेष्टा में रत मैं एक निजी मुहावरे की तलाश में सक्रिय रहा हूँ। इस तरह से अपने समकालीन यर्थाथ को पाने में गैर रूमानी उत्तेजना को शब्द देने में मुझे अपनी प्राक् भावों की स्वच्छंदता से मुक्ति की छटपटाहट का तल्खी से अनुभव करना पड़ रहा है। यह विकलता मेरे इधर के गीतों में कुछ अधिक है। इस संकलन में प्रकृति वर्णन के साथ–साथ अपने समकालीन जीवन सन्दर्भों को भी प्रकट किया गया है। गाँव घर के साथ–साथ व्यक्ति संवेदना का समाहार इन गीतों में हुआ है। देश को लेकर गीतकार की चिन्ता इस तरह से प्रकट होती है–

"लोकतंत्र की शाही बग्घी
खींचो बेटा, बनकर घोड़ा।
राजमार्ग पर, सरपट दौड़ो,
बांध मुसीका, दोई कर जोड़ो,
दुलकी चाल चलो मतवाली
मत उचको पुस्तंग न फेंको
नहीं पीठ को चाटो भैये
संविधान का खाओ कोड़ा।"[5]

'ऋतुएँ जो आदमी के भीतर हैं' इन गीतों में प्रकृति की व्यापकता का परिदृश्य एक उत्प्रेरणा प्रदान करता है। प्राकृतिक विम्बों की अतुलित सामर्थ्य सर्जना के नए मानदंड और ऋतुओं की अनंत संभावना से भरे ये गीत हिन्दी नवगीत के प्रमाणिक दस्तावेज हैं। दुबे जी अपनी पूर्व सीमाओं से मुक्त हुए हैं, उन्होंनें हमारी समकालीन चुनौतियों को अपने इस सद्यः संकलन में प्रस्तुत किया है।

गाँव में प्रकृति परकता खत्म हो रही है, जिसके लिए गाँव जाने जाते थे। पहले प्रत्येक गाँव में बरगद, नीम और पीपल के पेड़ अवश्य होते थे। यहाँ तक लोग अपने–अपने घरों के सामने नीम के पेड़ लगाते थे और रात में उसी पेड़ के पास सोते थे, क्योंकि उसे पता था कि सबसे ज्यादा ऑक्सीजन पीपल, नीम, बरगद के पेड़ से ही निःस्रत होती है। इन वृक्षों में कीटाणुओं को नष्ट करने की सबसे ज्यादा क्षमता भी होती है। वातावरण रोगाणु हीन रहता था। तभी तो लोक ने इन पेड़ों को आध्यात्म से जोड़ दिया था। इन्हें काटना या किसी प्रकार का नुकसान पहुँचाना समूचे वंश के लिए घातक था। इस तरह से लोक के अन्दर प्रकृति के प्रति डर था और अन्दर श्रद्धा भी तभी तो पीपल और बरगद के पेड़ों को रोज स्नान करवाया जाता था। जिससे पेड़ का पोषण तो होता ही था और मनुष्य के अन्दर श्रद्धा का भी पोषण होता था, लेकिन आज हम प्रकृति के प्रति जागरूक नहीं हैं उसके प्रति लापरवाह हो गये हैं। जंगल नष्ट हो रहे हैं। तभी तो ओजोन गैस क्षरण का खौफ आज हमारे सामने है। लोक प्रकृति का सहचर रहा है, उससे अलग रहकर लोक ने कभी भी अपनी अस्मिता को सुरक्षित नहीं समझा है। लोक ने अपने हर तरह के सम्बन्ध प्रकृति के साथ निभाये हैं।

रचनाकार डॉ0 दुबे प्रकृति के कुछ ऐसे ही गठजोड़ की ओर इशारा कर रहें हैं–

''महके बौर द्वार जनवासो
नेग–जोग मांगे अमराई
–मोर बसंत बंधे! गालों रोली
मले संझौती सतरंग किरण हथेली
हलदी टीके भर–भर भेंटें
सरसों छैल–छबीली!
निबिया देह परायी हो गई
आंगन भर बिखरी पियराई
–मौर बसंत बंधे। भांवर साईत
खिलें करौंदे टेसू रंग सुआफा
रात बेड़िनी राई नाची
महुआ भोर इजाफा।
दान–दहेजों बेला फूले
पांलागी गठजोड़ बिदाई
–मौर बसंत बंधे।''[6]

लेकिन आज लोक प्रकृति का यह सहचर भाव दिखाई नहीं दे रहा है। मनुष्य का प्राकृतिक जीवन समाप्त प्राय है। प्रकृति के साथ यह परिवर्तन लोक जीवन की ऊष्मा को समाप्त कर देगा। ग्राम्य स्वरूप के प्रति अब व्यक्ति का चिंतन बदल रहा है। वह अधिक स्वार्थी, अधिक व्यक्तिनिष्ठ, अधिक करकश और अधिक हिंसक हो गया हैं।

## संदर्भ सूची


1. रीते खेत में बिजूका– डॉ0 श्यामसुंदर दुबे, किताब की फ्लैप से।
2. रीते खेत में बिजूका– डॉ0 श्यामसुंदर दुबे, पृष्ठ–70.
3. अक्षत–(शरद 2004– बसन्त 2005) 'डॉ0 श्यामसुंदर दुबे पर एकाग्र' संपादक–डॉ0 श्रीराम परिहार, पृष्ठ–102.
4. रीते खेत में बिजूका– डॉ0 श्यामसुंदर दुबे, पृष्ठ–29.
5. इतने करीब से देखो– डॉ0 श्यामसुंदर दुबे, पृष्ठ–24.
6. ऋतुयें जो आदमी के भीतर हैं– डॉ0 श्यामसुंदर दुबे, पृष्ठ–84.